# जैन दर्शन में स्वातन्त्र्य बोध

—डा० नरेन्द्र भानावत M.A.P.H.D.

दार्शनिकों, राजनीतिज्ञों और समाजशास्त्रियों में स्वतन्त्रता का अर्थ भिन्न भिन्न दृष्टिकोणों से गृहीत हुआ है। यहां दो परिभाषाएं देना पर्याप्त है। मोर्टिंगर जे. एडलर के अनुसार यदि किसी व्यक्ति में ऐसी क्षमता अथवा शक्ति है, जिससे वह अपने किये गये कार्य को अपना स्वयं का कार्य बना सके तथा जो प्राप्त करे उसे अपनी सम्पत्ति के रूप में अपना सके तो वह व्यक्ति स्वतन्त्र कहलायेगा।[1] इस परिभाषा में स्वतन्त्रता के दो आवश्यक घटक बताये गये हैं— कार्यक्षमता और अपेक्षित को उपलब्ध करने की शक्ति।

अस्तित्ववादी विचारक 'ज्यां पाल सार्त्रे' के शब्दों में स्वतन्त्रता मूलतः मानवीय स्वभाव है और मनुष्य की परिभाषा के रूप में दूसरों पर आश्रित नहीं है। किन्तु जैसे ही मैं कार्यमें गूंथता हूं मैं अपनी स्वतन्त्रता की कामना करने के साथ साथ दूसरों की स्वतन्त्रता का सामना करने के लिये प्रतिश्रुत हूं।[2] इस परिभाषा के दो मुख्य बिन्दु हैं–आत्म निर्भरता और दूसरों के अस्तित्व व स्वतन्त्रता की स्वीकृति।

कहना न होगा कि उक्त दोनों परिभाषाओं के आवश्यक तत्त्व जैनदर्शन की स्वतन्त्रता विषयक अवधारणा में निहित है। ये तत्त्व उसी अवस्थामें मान्य हो सकते हैं जब मनुष्य को ही अपने सुख-दुख का कर्त्ता अथवा भाग्य का नियंता स्वीकार किया जाये और ईश्वर को सृष्टि के कर्त्ता, भर्त्ता और हर्त्ता के रूप में स्वीकृति न दी जाय। जैनदर्शन में ईश्वर को सृष्टिकर्ता और सृष्टि नियामक के रूप में स्वीकार नहीं किया गया है। इस दृष्टि से जैनदर्शन का स्वातन्त्र्य बोध आधुनिक चिन्तना के अधिक निकट है।

जैन मान्यता के अनुसार जगत में जड़ और चेतन दो पदार्थ हैं। सृष्टि का विकास इन्हीं पर आधारित है। जड़ और चेतन में अनेक कारणों से विविध प्रकार के रूपान्तर होते रहते हैं। इसे पर्याय कहा गया हैं। पर्याय की दृष्टि से वस्तुओं का उत्पाद और विनाश अवश्य होता है परन्तु इसके लिए देव, ब्रह्म, ईश्वर आदि की कोई आवश्यकता नहीं होती। अतएव जगत का न तो कभी सर्जन ही होता है न प्रलय ही। वह अनादि, अनन्त और शाश्वत है। प्राणिशास्त्र के विशेषज्ञ 'श्री जै. बी. एस. हाल्डेन का' मत है कि "मेरे विचार में जगत् की कोई आदि नहीं है। सृष्टि विषयक यह सिद्धान्त अकाट्य है और विज्ञान का चरम विकास भी कभी इसका विरोध नहीं कर सकता। पर स्मरणीय है कि गुण कभी नष्ट नहीं होते और न अपने स्वभाव को बदलते हैं। वे पर्यायों के द्वारा अवस्था से अवस्थान्तर होते हुए सदैव स्थिर बने रहते हैं। इस दृष्टि से जैनदर्शन में चेतन के साथ साथ जड़ पदार्थों की स्वतन्त्रता भी मान्य की गई है।

जैनदर्शन के अनुसार जीव अथवा आत्मा स्वतंत्र अस्तित्व वाला द्रव्य है। अपने अस्तित्व के लिये न तो यह किसी दूसरे द्रव्य पर आश्रित है और न इस पर आश्रित कोई अन्य द्रव्य है। इस दृष्टि से जीव को प्रभु कहा गया है जिसका अभिप्राय है जीव स्वयं ही अपने उत्थान या पतन का उत्तरदायी है। वही अपना शत्रु है और वही अपना मित्र। बंधन और मुक्ति उसी के आश्रित है। जैन दर्शन में जीवों का वर्गीकरण दो दृष्टिकोण से किया गया है-सांसारिक और आध्यात्मिक। सांसारिक दृष्टिकोण से जीवों का वर्गीकरण इन्द्रियों की अपेक्षा से किया गया है। सबसे निम्न चेतना स्तर पर एक इन्द्रिय जीव है जिसके केवल एक स्पर्शेन्द्रिय ही होती है। वनस्पति वर्ग इसका उदाहरण है। इनमें चेतना सबसे कम विकसित होती है। इनसे उच्चस्तर चेतना के जीवों में क्रमशः रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण इन्द्रियों का विकास होता है। मनुष्य इनमें सर्व श्रेष्ठ माना गया है। आध्यात्मिक दृष्टिकोण से जीव तीन प्रकार के माने गये हैं। बहिरात्मा,

१– द आइडिया आफ फ्रीडम पृ. ५८६

२– Existentalism पृ. ५४



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्तरात्मा और परमात्मा। बहिरात्मा शरीर को ही आत्मा समझता है और शरीर के नष्ट होने पर अपने को नष्ट हुआ समझता है। वह ऐन्द्रिय सुख को ही सुख मानता है। अन्तरात्मा अपनी आत्मा को अपने शरीर से भिन्न समझता है। उसकी सांसारिक पदार्थों में रुचि नहीं होती। परमात्मा वह है जिसने समस्त कर्म बंधनों को नष्ट कर जन्म-मरण के चक्र से सदा के लिये छुटकारा पा लिया है।

सुविधा की दृष्टि से बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा से सम्बध्द स्वातन्त्र्य भाव को हम तीन प्रकार से समझ सकते हैं।

(१) बहिरात्मा को स्वतन्त्रता एक प्रकार से इच्छा पूर्ति करने की क्षमता धारण करने वाली स्वतन्त्रता है क्योंकि यह क्षमता सभी जीवों में न्यूनाधिक मात्रा में निहित होती है। भौतिक आकांक्षाओं को पूर्ति सभी जीव करते ही हैं। यह स्वतंत्रता राजनैतिक शासन प्रणाली, सामाजिक संगठन और परिस्थितियों के आश्रित होती है। स्वतन्त्रता का यह बोध बहुत ही स्थूल है और देशकालगत नियमों और भावनाओं से बंधा रहता है।

(२) अन्तरात्मा की स्वतंत्रता एक प्रकार से आत्म पूर्णता की क्षमता धारण करने की स्वतंत्रता है। इसे हम आत्मसाक्षात्कार करने की स्वतंत्रता अथवा आदर्श जीवन जीने की स्वतंत्रता भी कह सकते हैं। यह स्वतंत्रता अर्जित स्वतंत्रता है जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप के सम्यक् परिपालन से सम्पादित की जा सकती है। सम्यक् दृष्टि सम्पन्न सद्गृहस्थ अर्थात् व्रती श्रावक, मुनि, आदि इस प्रकार की स्वातन्त्र्य भावना के भावक होते हैं।

(३) परमात्मा की स्वतन्त्रता जन्म-मरण के चक्र से सदा के लिये मुक्त होकर अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख-और अनन्त बल के प्रकटीकरण की स्वतंत्रता हैं। यह स्वतंत्रता जीवन का सर्वोच्च मूल्य हैं जिसे पाकर और कुछ पाना शेष नहीं रह जाता। तीर्थंकर, अर्हन्त, केवली, सिद्ध आदि परमात्मा इस श्रेणी में आते हैं।

जैन दर्शन में परमात्मा की स्वतंत्रता ही वास्तविक और पूर्ण स्वतन्त्रता मानी गई हैं।

जीव या आत्मा का लक्षण उपयोग अर्थात् चेतना माना गया हैं। संसारी जीव अपने अपने कर्मानुसार सुख-दुःख का अनुभव करता है। जैन दर्शन के अनुसार संसारी जीव जब राग-द्वेष युक्त मन, वचन, काया की प्रवृत्ति करता है तब आत्मा में एक स्पन्दन होता है उससे वह सूक्ष्म पुदगल परमाणुओं को ग्रहण करता है और उनके द्वारा नाना प्रकार के आभ्यन्तर संस्कारों को उत्पन्न करता है। आत्मा में चुम्बक की तरह अन्य पुद्गल परमाणुओं को अपनी ओर आकर्षित करने की तथा उन परमाणुओं में लोहे की तरह आकर्षित होने की शक्ति है। यद्यपि ये पुद्गल परमाणु भौतिक हैं, अजीव हैं तथापि जीव की राग-द्वेषात्मक मानसिक, वाचिक एवं शारीरिक क्रिया के द्वारा आकृष्ट होकर वे आत्मा के साथ ऐसे घुल मिल जाते हैं जैसे दूध और पानी। अग्नि और लौहपिण्ड की भांति वे परस्पर एकमेक हो जाते हैं। जीव के द्वारा कृत (किया) होने से ये कर्म कहे जाते हैं।

जैन कर्म शास्त्र में कर्म की आठ मूल प्रकृतियां मानी गई हैं। ये प्रकृतियाँ प्राणी को भिन्न भिन्न प्रकार के अनुकूल एवं प्रतिकूल फल प्रदान करती हैं। इन आठ प्रकृतियों के नाम है — ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय। इनमें से ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये चार घाती प्रकृतियां हैं क्योंकि इनसे आत्मा के चार मूल गुणों ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य का घात होता है। इन घाती कर्मो को नष्ट किये बिना आत्मा सर्वज्ञ और केवली नहीं बन सकती, आत्म साक्षात्कार नहीं कर सकती। शेष चार प्रकृतियां अघाती हैं क्योंकि ये आत्मा के किसी गुण का घात नहीं करतीं। उनका प्रभाव केवल शरीर, इन्द्रिय, आयु आदि पर पड़ता है। इन सभी कर्मों से मुक्त होना ही वास्तविक व पूर्ण स्वतन्त्रता है।

आज हम स्वतन्त्रता का जो अर्थ लेते हैं वह सामान्यतः राजनैतिक स्वाधीनता से है। यदि व्यक्ति को अपनी शासन-प्रणाली और शासनाधिकारी के चयन का अधिकार है तो वह स्वतन्त्र माना जाता है, पर जैन दर्शन में स्वतन्त्रता का यह स्थूल अर्थ ही नहीं लिया गया, उसकी स्वतन्त्रता का अर्थ बहुत सूक्ष्म और गहरा है। समस्त विषय-विकारों से, राग-द्वेष से, कर्मबन्ध से मुक्त होना ही उसकी दृष्टि में वास्तविक स्वतन्त्रता है। भगवान महावीर ने अन्तर्मुखी होकर साढ़ा बारह वर्ष की कठोर साधना कर, यह चिन्तन दिया कि व्यक्ति अपने कर्म और पुरुषार्थ में स्वतन्त्र है। उन्होंने कहा—यह आत्मा न तो किसी



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परमात्म शक्ति की कृपा पर निर्भर है और न उससे भिन्न है। जब वह यह महसूस करती है कि मेरा सुख-दुख किसी दूसरे के अधीन है, किसी की कृपा और क्रोध पर वह अवलम्बित है, तब चाहे वह किसी भी गणराज्य में, किसी भी स्वाधीन शासन प्रणाली में विचरण करे, वह परतन्त्र है।

यह परतन्त्रता आत्मा से परे किसी अन्य को अपने भाग्य का नियन्ता मान लेने पर बनी रहती है। अतः महावीर ने कहा—ईश्वर आत्मा से परे कोई अलग शक्ति नहीं है। आत्मा जब जागरुक होकर अपने कर्ममल को सर्वथा नष्ट कर देती है, अपने में निहित अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त चारित्र और अनन्त बल का साक्षात्कार कर लेती है, तब वह स्वयं परमात्मा बन जाती है। परमात्म दशा प्राप्त कर लेने पर भी वह किसी परम शक्ति में मिल नहीं जाती वरन् अपना स्वतन्त्र अस्तित्व अलग बनाये रखती है। इस प्रकार अस्तित्व की दृष्टि से जैन दर्शन में एक परमात्मा के स्थान पर अनेक व अनन्त परमात्मा की मान्यता है पर गुण की दृष्टि से सभी परमात्मा अनन्त चतुष्टय की समान शक्ति से सम्पन्न है। उच्चतम आध्यात्मिक स्थिति में व्यक्ति, स्वातन्त्र्य और समूहगत गुणात्मकता का यह सामंजस्य जैन दर्शन की एक विशिष्ट और मौलिक देन है।

परमात्मा बनने की इस प्रक्रिया में उसकी अपनी साधना और उसका पुरुषार्थ ही मूलतः काम आता है। इस प्रकार ईश्वर निर्भरता से मुक्त कर जैन दर्शन ने लोगों को आत्म—निर्भरता की शिक्षा दी।

कुछ लोगों का कहना है कि जैन दर्शन द्वारा प्रस्थापित आत्मनिर्भरता का सिद्धान्त स्वतन्त्रता का पूरी तरह से अनुभव नहीं कराता, क्योंकि वह एक प्रकार से आत्मा को कर्माधीन बना देता है। पर सच बात तो यह है कि जैन दर्शन की यह कर्माधीनता भाग्य द्वारा नियन्त्रित न होकर पुरुषार्थ द्वारा संचालित है। महावीर स्पष्ट कहते हैं— हे आत्मन्! तू स्वयं ही अपना निग्रह कर। ऐसा करने से तू दुखों से मुक्त हो जायगा।[1] यह सही है कि आत्मा अपने कृत कर्मों को भोगने के लिये बाध्य है पर वह उतनी बाध्य नहीं कि वह उसमें परिवर्तन न ला सके। महावीर की दृष्टि में आत्मा को कर्म बंध में जितनी स्वतंत्रता है, उतनी ही स्वतंत्रता उसे कर्मफल के भोगने की भी है। आत्मा अपने पुरुषार्थ के बल पर कर्मफल में परिवर्तन ला सकती है। इस सम्बन्ध में भगवान् महावीर के कर्म-परिवर्तन के निम्न लिखित चार सिद्धान्त विशेष महत्त्वपूर्ण हैं :—

(१) **उदीरणा** : नियत अवधि से पहले कर्म का उदय में आना।

(२) **उद्वर्तन** : कर्म की अवधि और फल देने की शक्ति में अभिवृद्धि होना।

(३) **अपवर्तन** : कर्म की अवधि और फल देने की शक्ति में कमी होना।

(४) **संक्रमण** : एक कर्म प्रकृति का दूसरी कर्म प्रकृति में संक्रमण होना।

उक्त सिद्धान्त के आधार पर भगवान् महावीर ने प्रतिपादित किया कि मनुष्य अपने पुरुषार्थ के बल से बंधे हुए कर्मों की अवधि को घटा-बढा सकता है और कर्मफल की शक्ति को मन्द अथवा तीव्र कर सकता है। इस प्रकार नियत अवधि से पहले कर्म भोगे जा सकते हैं और तीव्र फल वाला कर्म मन्द फल वाले कर्म के रूप में तथा मन्द फल वाला कर्म तीव्र फल वाले कर्म के रूप में बदला जा सकता है। यही नहीं, पुण्य कर्म के परमाणु को पाप के रूप में और पाप कर्म के परमाणु को पुण्य के रूप में संक्रान्त करने की क्षमता भी मनुष्य के स्वयं के पुरुषार्थ में है। निष्कर्ष यह है कि महावीर मनुष्य को इस बात की स्वतंत्रता देते हैं कि यदि वह जागरुक है, अपने पुरुषार्थ के प्रति सजग है और विवेकपूर्वक अप्रमत्त भाव से अपने कार्य सम्पादित करता है, तो वह कर्म की, अधीनता से मुक्त हो सकता है, परमात्म दशा अर्थात् पूर्ण स्वतंत्रता को प्राप्त कर सकता है।

महावीर ने अपने इस आत्म स्वातंत्र्य को मात्र मनुष्य तक सीमित नहीं रक्खा। उन्होंने प्राणी मात्र को यह स्वतंत्रता प्रदान की। अपने अहिंसा सिद्धान्त के निरुपण में उन्होंने स्पष्ट कहा कि प्रमत्त योग द्वारा किसी के प्राणों को क्षति पहुंचाना या उस

१– पुरिसा! अत्ताणमेव अभिनिगिज्झ, एवं दुक्खा पमोक्खऽसि –आचारांग ३।३।११९



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर प्रतिबंध लगाना हिंसा है। इनमें से यदि किसी एक भी प्राण को स्वतंत्रता में बाधा पहुंचाई जाती है तो वह हिंसा है। स्वतंत्रता का यह अहिंसक आधार कितना व्यापक और लोक मांगलिक है। जब हम किसी दूसरे के चलने फिरने पर रोक लगाते हैं तो यह कार्य जीव के शरीर बलप्राण की हिंसा है। जब हम किसी प्राणी के बोलने पर प्रतिबंध लगाते हैं तो वह वचन बल प्राण की और जब हम किसी के स्वतंत्र चिन्तन पर प्रतिबन्ध लगाते हैं तो वह मनोबल प्राण की हिंसा है। इसी प्रकार किसी के देखने सुनने आदि पर प्रतिबंध लगाना विभिन्न प्राणों की हिंसा है। कहना नहीं होगा कि हमारे संविधान में मूल अधिकारों के अन्तर्गत लिखने, बोलने गमनागमन करने आदि के जो स्वतंत्रता के अधिकार दिये गये हैं, वे भगवान महावीर के इसी स्वातंत्र्य बोध के परिणाम हैं।

भगवान् महावीर का स्वातंत्र्य बोध उनकी व्रत साधना के माध्यम से सामाजिक जीवन-पद्धति से जुड़ता है। अहिंसा के साथ-साथ सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, इच्छा परिमाण आदि व्रत व्यक्ति को संयमित और अनुशासित बनाने के साथ साथ दूसरों के अधिकारों की रक्षा और उनके प्रति आदर भाव को बढ़ावा देते हैं। अचौर्य और इच्छापरिमाण व्रतों की आज के युग में बड़ी सार्थकता है। अचौर्यव्रत व्यवहार शुद्धि पर विशेष बल देता है। इस व्रत में व्यापार करते समय अच्छी वस्तु दिखा कर घटिया दे देना, किसी प्रकार की मिलावट करना, झूठा नाप तौल तथा राज्य—व्यवस्था के विरुद्ध आचरण करना निषिध्द है। यहां किसी प्रकार की चोरी करना तो वर्जित है ही, किन्तु चोर को किसी प्रकार की सहायता देना या चुराई गई वस्तु को खरीदना भी वर्जित है। आज की बढ़ती हुई तस्करवृत्ति चौरबाजारी, रिश्वतखोरी, टेक्स चोरी आदि सब महावीर की दृष्टि से व्यक्ति को पाप की ओर ले जाते हैं, उसे पराधीन बनाते हैं। इन सबकी रोक से ही व्यक्ति स्वतंत्रता का सही अनुभव कर सकता है।

महावीर की दृष्टि में राजनैतिक स्वतंत्रता ही मुख्य नहीं है। उन्होंने सामाजिक व आर्थिक स्वतंत्रता पर भी बल दिया। उन्होंने किसी भी स्तर पर सामाजिक विषमता को महत्व नहीं दिया। उनकी दृष्टि में कोई जन्म से ऊंचा नीचा नहीं होता, व्यक्ति को उसके कर्म ही ऊंचा नीचा बनाते हैं। उन्होंने परमात्मदशा तक पहुंचने के लिये सब लोगों और सब प्रकार के साधनामार्गियों के लिये मुक्ति के द्वार खोल दिये। उन्होंने पन्द्रह प्रकार से सिद्ध होना बतलाया—तीर्थ सिद्ध, अतीर्थसिद्ध, तीर्थंकर सिद्ध, अतीर्थंकर सिद्ध, स्वयंबुद्ध सिद्ध, प्रत्येक बुद्ध सिद्ध, बुद्ध—बोधित सिद्ध, स्त्रीलिंग सिद्ध, पुरुषलिंग सिद्ध, नपुसंक लिग सिद्ध, स्वलिंग सिद्ध, अन्यलिंग सिद्ध, गृहस्थलिंग सिद्ध, एक सिद्ध अनेक सिद्ध (पन्नवंणा पद १, जीव प्रज्ञापन प्रकरण) उनके धर्मसंघ में कुम्हार, माली, चाण्डाल आदि सभी वर्ग के लोग थे। उन्होंने चन्दनबाला जैसी साध्वी को अपने संघ की प्रमुख बनाकर नारी जाति को सामाजिक स्तर पर ही नहीं आध्यात्मिक साधना के स्तर पर भी पूर्ण स्वतंत्रता का भान कराया।

गृहस्थों के लिये महावीर ने आवश्यकताओं का निषेध नहीं किया। उनका बल इस बात पर था कि कोई आवश्यकता से अधिक संचय—संग्रह न करे। क्योंकि जहां संग्रह है, आवश्यकता से अधिक है, वहाँ इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि कहीं आवश्यकता भी पूरी नहीं हो रही है। लोग दुःखी और अभावग्रस्त हैं। अतः सब स्वतंत्रतापूर्वक जीवनयापन कर सकें इसके लिये इच्छाओं का संयम आवश्यक है। यह संयमन व्यक्ति स्तर पर भी हो, सामाजिक स्तर पर भी हो और राष्ट्र स्तर पर भी हो, इसे उन्होंने परिग्रह की मर्यादा या इच्छा का परिमाण कहा। इससे अनावश्यक रूप से धन कमाने की प्रवृत्ति पर अंकुश लगेगा और राष्ट्रों की आर्थिक प्रतिद्वन्दिता रुकेगी। शोषण और उपनिवेशवाद की प्रवृत्ति पर प्रतिबन्ध लगेगा।

महावीर ने कहा जैसे सम्पत्ति आदि परिग्रह है वैसे ही हठवादिता, विचारों का दुराग्रह आदि भी परिग्रह है। इससे व्यक्ति का दिल छोटा और दृष्टि अनुदार बनती है। इस उदारता के अभाव में न व्यक्ति स्वयं स्वतंत्रता की अनुभूति कर पाता है और न दूसरों को वह स्वतंत्र वातावरण दे पाता है। अतः उन्होंने कहा—प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक होती है। उसे अपेक्षा से देखने पर ही, सापेक्ष दृष्टि से ही, उसका सच्चा व समग्र ज्ञान किया जा सकता है। यह सोचकर व्यक्ति को अनाग्रही होना चाहिये। उसे यह सोचना चाहिये कि वह जो कह रहा है वह सत्य है, पर दूसरे जो कहते हैं उसमें भी



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सत्यांश है। ऐसा समझकर दृष्टि को निर्मल, विचारों को उदार और दिल को विशाल बनाना चाहिये। हमारे संविधान में धर्म निरपेक्षता का जो तत्त्व समाविष्ट हुआ है वह इसी वैचारिक सापेक्ष चिन्तन का परिणाम प्रतीत होता है।

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि महावीर का स्वातंत्र्य बोध यद्यपि आत्मवादी चिन्तन पर आधारित है पर वह जीवन के सभी पक्षों—आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक आदि को सतेज और प्रभावी बनाता है।

स्वतंत्रता के २८ वर्षों बाद भी हम विभिन्न स्तरों पर स्वतंत्रता की सही अनुभूति नहीं कर पा रहे हैं। इसका मूलकारण स्वतंत्रता को अधिकार प्राप्ति तक ही सीमित रखकर समझना है। पर वस्तुतः स्वतंत्रता मात्र अधिकार नहीं है। वह एक ऐसा भाव है, जो व्यक्ति को अपने सर्वांगीण विकास के लिये उचित अवसर, साधन और कर्म करने की शक्ति प्रदान करता है। यह भाव अपने कर्तव्य के प्रति सजग और सक्रिय बने रहने से ही प्राप्त किया जा सकता है। परन्तु दुःख इस बात का है कि आज हम अपना कर्तव्य किये बिना ही अधिकार का सुख भोगना चाहते हैं। इसीका परिणाम है – आज का यह संत्रास, यह संकट।

इस संत्रास और संकट से निपटने के लिये हमें बाहर नहीं, भीतर की ओर देखना होगा। बाहर से हम भले ही स्वतंत्र और स्वाधीन लगें पर भीतर से हम छोटे-छोटे स्वार्थों, संकीर्णताओं और अंधविश्वासों से जकड़े हुए हैं। शरीर से हम स्वतंत्र लगते हैं पर हमारा मन स्वाधीन नहीं है। जबतक मन स्वाधीन नहीं होता, व्यक्ति की कर्मशक्ति सही माने में जागृत नहीं होती और वह अपने कर्तव्य पथ पर निष्ठापूर्वक बढ़ नहीं पाता। मन की स्वाधीनता के लिये आवश्यक है — विषय विकारों पर विजय पाना और यह तब तक संभव नहीं जब जब तक कि व्यक्ति आत्मोन्मुखी न बने।

आज की हमारी सारी कार्य प्रणाली का केन्द्र कर्तव्य न होकर, अधिकार बना हुआ है। शक्ति का स्रोत सेवा न होकर, सत्ता है। प्रतिष्ठा का आधार गुण न होकर, पैसा और परिग्रह है। जब तक यह व्यवस्था रहेगी तब तक हम स्वतंत्रता का सही आस्वादन नहीं कर सकते। हमें इस व्यवस्था को बदलना होगा और इसके लिये चाहिए, तप, त्याग, बलिदान, कर्तव्य के प्रति अगाध निष्ठा और आत्मोन्मुखी दृष्टि।

## काव्याञ्जली

**श्री राजेन्द्रमुनि शास्त्री, साहित्यरत्न**

**परम पावन जीवन आपका, प्रखर थी किरणें गुणराशि की।**
**यदपि भानु समान विकास था, तदपि जीवन शीतल केन्द्र था।१।**
**अचलता गिरिराज समान थी, अतिगंभीर अथाह समुद्र से।**
**वितत थी धरणी सम धीरता, गगन के सम व्यापक रूप था।२।**
**विशद भावभरी वचनावली, अमृतधार समा बहती सदा।**
**कर गयी वह पूत जनस्थली, उपज थी जिस से जिनधर्म की।३।**
**विविध अन्चल भारत देश का, विषद प्रान्त रहा गुजरात है।**
**कवि शिरोमणि नानमुनीन्द्र के, सुयश सौरभ से महका स्वयं।४।**
**जनम के शत वर्ष हुए अभी, अखिल मानव जाति प्रसन्न है।**
**इस महोत्सव से अनुरक्त हो, यह समर्पित है कुसुमाञ्जली ।।५।।**

☆☆



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org